THE TIMES OF INDIA

Date: 12-09-17

A scholarship for everyone

Why school vouchers are the best way to give India's children access to quality education

Geeta Kingdon

The Times of India has launched a generous scholarship for 400 students to access quality higher education "to nurture the next generation of APJ Abdul Kalams". Laudable as such benefactions are, to achieve scale against our teeming population young people's opportunity to access good education and achieve their potential should not depend on philanthropy, but be the duty of a responsible and just government.The way of giving government funding can alter the fortunes of India's children. Specifically, direct benefit transfer (DBT) or school voucher to parents would be a scholarship to every eligible child, enabling him/her to attend any school of their choice whose fee is upto the monetary value specified on the voucher.Equally importantly, voucher funding would make India's lax government schools and teachers more accountable by linking a school's funding (and thus teacher salaries) to its ability to attract and retain children.Under the current funding structure, far from retaining children, government elementary schools have been emptying at an alarming rate: official DISE data show that between 2011 and 2016, total enrolment in government schools fell by 13 million and that in private schools rose by 17.5 million. This exodus has rendered many government schools pedagogically and economically unviable, with 40% of all government schools now having fewer than 50 students in total!Under DBT, the government gives a voucher – a promissory note – of a given monetary value, to the parent of each eligible child. If the voucher is fixed at, say, Rs 500 per month, the parent can admit their child in any school that charges fees up to that amount, but she can also supplement the voucher from her own pocket to avail a higher fee school, if she so wishes. Parents can choose any type of institution, ie private, aided or government school.

Many countries have used school vouchers to good effect, eg Colombia, Chile, the Netherlands, New Zealand, US, etc. Under a universal DBT scheme, all children are eligible for a school voucher, while under a targeted scheme, only designated groups would be eligible, eg children of 'economically weaker sections'.This kind of public scholarship to children is a radically different way of funding education.

Presently government grant goes directly to schools, but under a voucher scheme it would go indirectly to schools via parents. Secondly, vouchers represent a per-student grant to schools, rather than the current 'block grant' whereby each government-funded school gets a lump sum (usually equal to its total teacher-salary bill) irrespective of the number of children in the school – which is a major cause of inefficiency.The power of vouchers is that a voucher-bearing parent, like a fee-paying parent, can hold the school accountable because she has the power to deprive the school of its revenue by taking her child (and thus the voucher) away to a different school, if she is dissatisfied with the quality/ effort of a school. Under voucher funding, schools are compelled to compete with each other to attract children, and thus have to give good results.

A voucher scheme can also be made an agent of greater equity in education, with the voucher value being set inverse to family income, ie with poorer children getting higher value vouchers, instead of a uniform voucher value for all children.The government has two main objections to DBT in education. The first is its belief that in backward rural areas private schools will not come up, even with the lure of government voucher funding. However, this fear is unfounded. National Sample Survey data 2014-15 show that median fee in private unaided elementary schools was Rs 292 pm in rural and Rs 542 pm in urban India, and that 25% children in unaided schools of India paid a 'total course fee' of less than Rs 200 pm (57% paid less than Rs 500 pm, 82% paid less than Rs 1,000 pm and a mere 3.6% paid more than Rs 2,500 pm). Given that 25% private school managers charge less than Rs 200 pm, even a relatively low value voucher of Rs 500 pm will represent untold riches in remote rural areas, and is likely to produce a strong supply-side response.MHRD's second problem with DBT funding of schools is that the many emptying government schools – with their few enrolled students – would get too little revenue under voucher funding to pay their current teachers. Here, the central government and many state governments are already contemplating school 'consolidation', ie merging the tiny government schools with bigger government schools nearby, and redeploying teachers from under-enrolled to over-enrolled schools.While in the transition phase there may be a glut of teachers to be paid above the voucher revenue, with natural wastage (retirement), the problem will disappear over time. Another solution may be to set a different voucher amount for government schools and a different one for private schools since government schools' per pupil expenditure in 2017-18 is around Rs 2,500 pm in primary and Rs 3,300 pm in upper-primary classes (see Tamil Nadu's July 2017 gazette), which is several times the median private school fee level.Knotty problems require bold solutions. Tinkering at the edges of the system is simply not going to improve the quality of schooling, nor will the provision of good inputs (infrastructure and trained staff) do the job. The elephant in the room is school and teacher accountability, and DBT voucher funding tackles that while also providing a scholarship to all the children of India.

बिज़नेस स्टैंडर्ड

Date: 12-09-17

कचरे के पहाड़ तले दबे शहरों को अपनाने होंगे विकल्प

सुनीता नारायण

पिछले पखवाड़े दिल्ली में कचरे का पहाड़ गिरने से दो लोगों की मौत हो गई। 'लैंडफिल' के नाम से संबोधित किया जाने वाला कचरे का यह ढेर 50 मीटर से भी अधिक ऊंचा है। यह दिल्ली के तीन लैंडफिल में से एक है। वैसे यह लैंडफिल काफी पहले ही अपनी क्षमता पूरी कर चुका था। हर किसी को यह मालूम था कि ऐसा हादसा कभी भी हो सकता है। और आखिरकार ऐसा हो ही गया। सवाल है कि कचरे के पहाड़ को लेकर शहर क्या करेगा? हादसा होने के अगले ही दिन नगर निगम के अधिकारी कचरे के इस ढेर को दूसरी जगह भेजने पर विचार करने लगे। इसके लिए एक जगह की तलाश भी कर ली गई। लेकिन रानी खेड़ा गांव के लोगों ने इसका तीखा विरोध किया। उनका कहना था कि उनकी लाशों से गुजरकर ही कचरे का यह ढेर वहां भेजा जा सकता है। वे लोग ऐसा क्यों नहीं करते? क्या हम लोगों में से कोई भी व्यक्ति यह चाहेगा कि हमारे इर्दगिर्द कचरे का पहाड़ खड़ा हो? लेकिन जब यह कचरा हमारा है तो इसे हमारे पिछवाड़े क्यों न रखा जाए?सच तो यह है कि 'हमारे पिछवाड़े ऐसा नहीं होगा' कचरा प्रबंधन में एक गेम चेंजर है। कचरा प्रबंधन का वैश्विक इतिहास इसकी तस्दीक भी करता है। वर्ष 1980 के दशक की शुरुआत में अमेरिका और यूरोप के समृद्ध शहरों के कचरे के पहाड़ों को जहाजों पर लादकर अफ्रीकी देशों में ले जाया गया था। वह मामला एक घोटाले की तरह सामने आया था। इसके बाद ही हानिकारक कचरे को दूसरे देश ले जाने और उसके निपटान पर रोक संबंधी बेसल समझौते पर दुनिया भर में सहमति बनी। इस मामले में वैश्विक अमीरों की वह सोच उजागर हुई थी कि कचरा उनके पिछवाड़े नहीं रखा जाएगा। इसी सोच ने उस कचरे को अफ्रीका के गरीब निवासियों के पिछवाड़े भेजा था। लेकिन ये गरीब जब विरोध करने लगे तो अमीरों को अपना कचरा वापस लेना पड़ा और ऐसे तरीके खोजने पड़े कि कचरा उनके घर के सामने न जमा हो। पश्चिमी देशों में कचरा प्रबंधन का विकास ही इसी तरह हुआ है। उनके पास अपने कचरे को पिछवाड़े में ही खपाने, उसके पुनर्चक्रण या दोबारा इस्तेमाल लायक बनाने के सिवाय कोई चारा नहीं रह गया था।

इसी वजह से भारत को भी खुश होना चाहिए अब लोग कचरे को अपने पिछवाड़े रखने के लिए तैयार नहीं हैं। लंबे समय से हमने अपने शहरों के पिछवाड़े का इस्तेमाल कचरा फेंकने के लिए किया है जबकि गरीब लोग वहां रहते हैं। लेकिन सामाजिक एवं राजनीतिक जागरूकता बढ़ने और शिक्षा का स्तर बढ़ने से अब ये लोग भी खुलकर कहने लगे हैं कि 'बस बहुत हो गया। अपना कचरा हमारे पिछवाड़े नहीं फेंक सकते हैं।' लेकिन उनके विरोध को अधिक तवज्जो नहीं दी जा रही है। शहरी प्रशासन और न्यायपालिका इस तरह के प्रदर्शनों को अक्सर गलत बताते रहते हैं। वजह यह है कि कचरा निपटान को नगर निगम का अहम काम समझा जाता है। ऐसे में लैंडफिल बनाने या कंपोस्ट संयंत्र बनाने के विरोध से खड़ी होने वाली अड़चनों को गैरजरूरी या गैरकानूनी माना जाता है। दरअसल प्रदर्शनों का नतीजा भी अलग होता है और वह इस पर निर्भर करता है कि विरोध करने वाले कौन हैं, अमीर या गरीब? इससे गरीबों का अपने पिछवाड़े में कचरा जमा करने से इनकार करना अपेक्षाकृत धनवान लोगों के विरोध से अलग हो जाता है। मध्यवर्ग अमूमन इस समस्या को दूसरे के पिछवाड़े डालने की कोशिश करता है। लेकिन अब गरीबों ने भी चुप्पी साधने से मना कर दिया है लिहाजा कचरे के इन ढेरों का निपटारा मुश्किल हो गया है। ऐसे में इसे अलग तरीके से निपटाना पड़ेगा। गरीबों के इस प्रतिरोध में कचरा निपटान को लेकर क्रांतिकारी आगाज की क्षमता है जिसमें कचरे को कचरा न मानकर संसाधन समझा जाएगा। स्वच्छ भारत अभियान में जोर-शोर से लगे शहरों में ऐसा ही कुछ हो रहा है। इन शहरों ने ठोस कचरा प्रबंधन के नए तरीके अपनाए हैं क्योंकि उनके पास कोई चारा ही नहीं रह गया था।

तिरुवनंतपुरम शहर से सटे विलप्पाल्सला गांव ने जब कचरे को अपने यहां फेंकने का विरोध किया तो उसे उच्चतम न्यायालय से राहत नहीं मिल पाई थी। लेकिन गांव के लोग अडिग रहे और प्रशासन को कचरा प्रबंधन के वैकल्पिक तरीकों के बारे में सोचना पड़ा। नगर निगम का कहना है कि कचरा डालने की तय जगह नहीं होने से वह कचरा इक_ा भी नहीं कर सकता है। ऐसी स्थिति में या तो लोगों को बदबूदार कचरे के साथ रहने की आदत डालनी होगी या फिर कचरे का अलग करने और पुनर्चक्रण का तरीका सीख लेना होगा। ऐसा हो भी रहा है। इसी तरह के प्रदर्शन की वजह से पड़ोस के अलपुझा शहर में भी इकलौते लैंडफिल को बंद करना पड़ा है।कचरे को लेकर बगावत की घटनाएं बढ़ रही हैं। पुणे में उरुली देवाची गांव के लोगों ने मना कर दिया है कि अब वे इस शहर का कचरा अपने यहां नहीं डालने देंगे। बेंगलूरु में कन्नाहल्ली और बिंगीपुरा कचरा निपटान केंद्रों के आसपास रहने वाले लोग इनका विरोध कर रहे हैं। वेल्लूर में तो सदुप्पेरी के गांव वालों ने तो हथियारों के साथ घेराबंदी कर रखी है। इस सूची में और भी कई नाम हैं।इसके बावजूद दिल्ली जैसे शहरों के प्रशासक अब भी कचरा डालने के लिए दूसरी जगह की तलाश में लगे हैं। उन्हें उम्मीद है कि जल्द ही विरोध के स्वरों को शांत कर दिया जाएगा या फिर अदालत ही कोई मनमाफिक आदेश पारित कर देगी। तब तक पुरानी जगह पर ही कचरा फेंका जाता रहेगा और यह उम्मीद की जाती रहेगी कि कचरे का वह पहाड़ दोबारा न खिसके। लेकिन यह लंबे समय तक चलने वाला नहीं है।अब हमें यह मानना होगा कि यह असंतोष न केवल विधिसम्मत है बल्कि जरूरी भी है। दिल्ली को अब कचरा फेंकने के लिए नई जगह तलाशने के बजाय इसे अपने ही घर के पिछवाड़े ठिकाने लगाने के तरीके सीखने चाहिए। इसके लिए कचरा निपटान की पूरी प्रक्रिया अपनानी होगी।

Date:12-09-17

ताकतवर जापान भारत के लिए होगा मददगार

रक्षा क्षेत्र में आत्मनिर्भरता हासिल करने में लगे जापान की रक्षा कंपनियों को भारत से सहयोग बढ़ाने पर ध्यान देना होगा।

नितिन पई

जापान के प्रधानमंत्री शिंजो आबे इस सप्ताह भारत की यात्रा पर आने वाले हैं। उनकी यह यात्रा उत्तर-पूर्व एशिया में मंडराते नाभिकीय खतरे की पृष्ठभूमि में हो रही है। हिंद-प्रशांत क्षेत्र में बदलते शक्ति संतुलन के चलते यह इलाका पहले से ही व्यापक और गहरे संकट में फंसा हुआ है। उत्तर कोरिया ने हाल के दिनों में परमाणु प्रक्षेपास्त्रों का परीक्षण किया है जिसने जापान के मन में पनपते असुरक्षा भाव को बढ़ा दिया है। जापान का मानना है कि चीन हिंद-प्रशांत क्षेत्र में आधिपत्यकारी शक्ति के तौर पर अमेरिका को अपदस्थ करने के लिए चीन पूरा जोर लगा रहा है। राष्ट्रपति शी चिनफिंग के कार्यकाल को देखने से यह संदेह पुख्ता हो जाता है कि चीन का 'शांतिपूर्ण उभारÓ महज एक सुविधाजनक मिथक है। डॉनल्ड ट्रंप के आगमन ने भी उनके पूर्ववर्ती ओबामा प्रशासन के समय उभरी उन आशंकाओं को सही साबित किया है जिनके मुताबिक चीन के खिलाफ संघर्ष छिडऩे की सूरत में अमेरिका को अब पहले की तरह भरोसेमंद साथी नहीं माना जा सकता है।जापान के लोगों ने पिछली तीन पीढिय़ों से जिस दुनिया को देखा-समझा है अब वह बदल चुका है। लेकिन इसे स्वीकार करने में कई जापानी असहज महसूस कर रहे हैं।आबे जापान के उन चुनिंदा नेताओं में से एक हैं जो बदलते वैश्विक परिदृश्य को यथार्थ के धरातल पर समझने की कोशिश करते हैं। आबे ने अपनी राजनीतिक पूंजी का इस्तेमाल जापान की विदेश एवं रक्षा नीतियों को नए सिरे से गढऩे में किया है। इसके साथ ही उन्होंने जापान के शांतिवादी संविधान में भी संशोधन

कराए हैं। फिर भी मुझे यकीन नहीं है कि जापान का सत्ता प्रतिष्ठान और समाज अमेरिकी सुरक्षा आवरण के तहत रहने से 70 साल तक मिली सुविधा खत्म होने और पुराने सुनहरे दिन कभी वापस न लौटने की हकीकत को स्वीकार करने को तैयार है। आबे अब भी जापान के लोकप्रिय नेता हैं लेकिन उनकी ही पार्टी के भीतर कुछ ऐसी आवाज मुखर होने लगी है जो रक्षा और सुरक्षा संबंधी उनकी नीतियों से असहमति जताती हैं। कुछ घोटालों के सामने आने से आबे की राजनीतिक पूंजी प्रभावित होने के बावजूद वह अपने सुरक्षा एजेंडे पर आगे बढऩे के लिए वक्त मांग रहे हैं।भले ही वह जापान को अधिक आत्मनिर्भर बनाने के एक नए सफर पर निकल पड़े हैं लेकिन एक सशक्त जापान की जरूरत चीन के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर मौजूद हरेक पूर्व एशियाई देश महसूस कर रहा है। वियतनाम, ऑस्ट्रेलिया, इंडोनेशिया और सिंगापुर सभी चीन के प्रभुत्व के खिलाफ आवाज उठाने की मंशा रखते हैं लेकिन वास्तव में चीन के खिलाफ खड़े होने से जुड़े जोखिम इतने अधिक हैं कि कोई भी ऐसा करने से परहेज करेगा। डोकलाम विवाद में भारत ने यह साबित कर दिया है कि वह चीन की जबरदस्ती का मुकाबला करने में सक्षम है। लेकिन अगर भारतीय सीमा के बजाय दक्षिण चीन सागर में चीन ऐसा ही दुस्साहस करता है तब शायद भारत वैसी जिद नहीं दिखाएगा। ऐसी स्थिति में जापान ही पूर्व एशिया का ऐसा अकेला देश बचता है जो चीन के प्रभुत्व के खिलाफ एक क्षेत्रीय शक्ति संतुलन कायम करने की चाहत और क्षमता दोनों रखता है। जापानी नेतृत्व उसके सहयोगियों में भी चीन के खिलाफ खड़े होने की कूवत भर देगा।अक्सर यह कहा जाता है कि युद्ध से जुड़ी पुरानी स्मृतियां जापानी नेतृत्व के प्रति पूर्व एशियाई देशों के मन में संदेह के बीज डाल सकती हैं। ऐसी दलीलें चीन के हितों के अनुकूल हैं लेकिन यह भी सच है कि विश्व-युद्ध के बाद जापान की तरफ से पूर्व एशियाई देशों को दी गई मदद और निवेश ने उनके आर्थिक विकास में भी खासा योगदान दिया है। वैसे भी भविष्य पर नजर रखने वाली कोई भी सरकार इस बात को लेकर अधिक फिक्रमंद होगी कि मौजूदा दौर में चीन क्या कर रहा है, न कि 1945 से पहले जापान ने उनके साथ क्या किया था? आज के समय में आसियान के बहुत कम देश ही सशक्त जापान का विरोध करेंगे। उनमें से अधिकांश देश तो इसका स्वागत ही करेंगे।

भारत भी ऐसा ही करेगा। समुद्री नक्शे पर नजर डालने से यह साफ हो जाता है कि अगर जापान पश्चिमी प्रशांत महासागर में भारत की आंशिक मदद से चीन को साध लेता है तो वह भारत के ही हित में होगा। इससे भारतीय नौसेना जापान की थोड़ी मदद से हिंद महासागर में अपना ध्यान केंद्रित कर पाएगी। इस तरह जापान अपने संविधान और भारत अपनी क्षमता के दायरे में रहते हुए काम कर सकेंगे।भारतीय नौसेना के विस्तार की योजना चमकदार ढंग से आगे बढ़ रही है। भारत में रक्षा खरीद के व्यापक परिदृश्य को देखते हुए इसे उत्साहजनक ही माना जाना चाहिए। चीनी नौसेना की ताकत में हाल में हुई भारी बढ़ोतरी के लिहाज से देखें तो भारतीय नौसेना की ताकत को नए सिरे से आंकने की जरूरत पड़ेगी। सैन्य शक्ति के बारे में आबे के बनाए नए नियमों का परिणाम यह हुआ है कि अब जापान विशाल जहाज, पनडुब्बी, विमान और सूचना प्रणाली मुहैया कराने की क्षमता से लैस हो चुका है। जापानी सैन्य शक्ति भारतीय नौसेना की ताकत बढ़ाने में मददगार हो सकती है। इस दिशा में की गई पहली कोशिश तो खैर नाकाम हो गई थी। भारत आकाश और पानी दोनों पर उड़ान भरने में सक्षम विमान शिन्मायवा यूएस-2 को जापान से खरीदना चाहता था लेकिन वह प्रस्ताव आगे नहीं बढ़ सका। हालांकि अगर दोनों देशों की सरकारें उस प्रकरण से कुछ सीख लेती हैं तो उसे नाकाम नहीं कहा जाएगा। दरअसल जापान की कंपनियां दुनिया भर में अपना परचम लहरा रही हैं लेकिन रक्षा उपकरण कारोबार के मामले में अभी वे नौसिखिया ही हैं। जापान की नौकरशाही का रूढ़िवादी अंदाज रक्षा निर्यात कारोबार को और भी जटिल बना देता है। आबे की नीतियों के मुताबिक खुद को ढाल पाने में व्यवस्था के नाकाम रहने से रक्षा उपकरण कारोबार में जापान को अभी तक असफलता ही मिली है। ब्रिटेन और इंडोनेशिया को समुद्री निगरानी विमान बेचने, ऑस्ट्रेलिया को पनडुब्बी देने और भारत को शिन्मायवा विमान बेचने की नाकाम कोशिशें इसके चंद उदाहरण हैं।जहां तक भारतीय परिप्रेक्ष्य का सवाल है तो हमें जापान के साथ सामरिक रक्षा भागीदारी को बढ़ाने के लिए शिन्मायवा प्रकरण से आगे देखना होगा। प्रधानमंत्री मोदी और आबे तो ऐसी ही मंशा जताते रहे हैं। भारत चाहता है कि उसे जापान से अच्छी कीमतों में सौदा हो और स्थानीय स्तर पर उत्पादन का अधिकार भी मिले। भारत की ये मांगें वाजिब लगती हैं लेकिन कहीं-न-कहीं जापान के साथ एक दीर्घकालिक और दोस्ताना रक्षा भागीदारी कायम करने की बड़ी तस्वीर को हम नजरअंदाज

कर देते हैं।दोनों देशों के प्रधानमंत्रियों को अपनी मुलाकात के दौरान रक्षा सहयोग बढ़ाने के लिए एक साझा कार्यबल गठित करने का फैसला लेना चाहिए। इस दिशा में तात्कालिक सहयोग का एक मौका भी मौजूद है। भारत अपनी नौसेना के लिए नई पनडुब्बियां खरीदना चाहता है और जापान की सोरयू श्रेणी की पनडुब्बियां काफी अच्छी मानी जाती हैं। कई मायनों में यह सौदा काफी अहम हो सकता है। इन सभी संभावनाओं को कार्यरूप देने के लिए जापान को आबे का अनुसरण करना होगा। जापान को अब एक बड़ी शक्ति के तौर पर बरताव करना चाहिए। चीन और उत्तर कोरिया की संहारक क्षमता बढऩे के बाद अब अमेरिका पहले की तरह जापान की मदद में संकोच करेगा। ऐसी स्थिति में जापान के सशक्त होने की सबसे ज्यादा जरूरत तो खुद जापान को ही है।

नईदुनिया

Date: 12-09-17

बड़ी भूमिका को तैयार

संपादकीय

अफगानिस्तान के विदेश मंत्री सलाहुद्दीन रब्बानी की भारत यात्रा पर इस बार खास निगाहें थीं। अमेरिका की नई अफगान नीति की घोषणा के बाद भारत और अफगानिस्तान के बीच सीधे संवाद का यह पहला मौका था। अमेरिकी राष्ट्रपति डोनाल्ड ट्रंप ने अपनी नीति का एलान करते हुए भारत से अफगानिस्तान के पुनर्निर्माण में ज्यादा बड़ी भूमिका निभाने की अपील की थी। साफ है कि अमेरिका अफगान मामलों से भारत को अलग रखने की पाकिस्तान की मंशा को ठुकरा चुका है। उल्टे ट्रंप प्रशासन की ओर से दो-टूक कहा गया कि पाकिस्तान स्थित दहशतगर्द गुट अफगानिस्तान में अस्थिरता फैलाने में जुटे हुए हैं। अमेरिकी नीति में यह स्पष्ट परिवर्तन है। इससे भारत को अफगानिस्तान में अपने रणनीतिक उद्देश्यों के अनुरूप पहल करने का नया अवसर मिला है। इसी पृष्ठभूमि में रब्बानी भारत-अफगानिस्तान सामरिक भागीदारी परिषद की बैठक में हिस्सा लेने नई दिल्ली आए। इस बार परिषद की बैठक लगभग एक साल देर से हुई। मगर उल्लेखनीय यह है कि भारत के नजरिए से अंतरराष्ट्रीय परिस्थितियां अनुकूल होते ही ये बैठक आयोजित हुई। इसके बाद जारी साझा वक्तव्य में विदेश मंत्री सुषमा स्वराज और रब्बानी ने जोर दिया कि भारत व अफगानिस्तान के संबंध सिर्फ इन देशों के लिए ही नहीं, बल्कि इस पूरे इलाके के लिए अहम हैं। हालांकि साझा वक्तव्य में पाकिस्तान का नाम नहीं लिया गया, लेकिन दोनों विदेश मंत्रियों ने कहा कि भारत और अफगानिस्तान सीमापार से प्रायोजित आतंकवाद और (आतंकवादियों के) सुरक्षित अड्डों एवं शरणस्थली से उत्पन्न् खतरों का एकजुट होकर मुकाबला करेंगे। यह एक तरह से अफगानिस्तान की सुरक्षा रणनीति में भारतीय भूमिका की स्वीकृति है। इसके पहले वहां भारत का योगदान मोटे तौर विकास कार्यों में ही था।

भारत वहां दो अरब डॉलर के निवेश सहायता कार्यक्रम चला रहा है। इसके तहत भारत ने वहां सड़क और अस्पताल बनाए हैं। पुलिस प्रशिक्षण का कार्यक्रम भी भारत वहां चलाता है। इसके अलावा अफगानिस्तान के फौजी अफसरों को भारत स्थित सैन्य कॉलेजों में ट्रेनिंग दी जाती है। नई दिल्ली में सोमवार को हुई द्विपक्षीय वार्ता के बाद सुषमा स्वराज ने एलान किया कि दोनों देश मिलकर सामाजिक, आर्थिक एवं बुनियादी ढांचा विकास की 116 नई परियोजनाओं पर काम करेंगे। ये परियोजनाएं 31 अफगानी प्रांतों के अंतर्गत खासकर कस्बाई व ग्रामीण इलाकों में चलाई जाएंगी। नई दिल्ली में बनी सहमति को बेशक अमेरिका में भी सराहा जाएगा। राष्ट्रपति ट्रंप ने यही इच्छा जताई थी कि भारत अफगानिस्तान में अपनी भूमिका बढ़ाए। ट्रंप वहां अमेरिकी फौज की मौजूदगी बढ़ाने का एलान कर चुके हैं, यानी अफगानिस्तान एक नए दौर में प्रवेश कर रहा है। इस मौके पर सुरक्षा एवं विकास कार्यों में अपना दखल

बढ़ाकर भारत वहां अपने रणनीतिक हित बेहतर ढंग से साध सकता है। सुषमा स्वराज की सलाहुद्दीन रब्बानी के साथ बनी अहम सहमतियों से इस मकसद का मार्ग और प्रशस्त हुआ है।

Date: 11-09-17

छटपटाहट स्वाभाविक

अवदेश कुमार

चीन की ओर से इस समय ऐसी बातें की जा रहीं हैं, जिनसे पहली नजर में भारत में निर्मित यह धारणा कमजोर होती है कि भारत ने चीन के संदर्भ में विदेश नीति में बहुत बड़ी सफतलाएं प्राप्त की हैं। वो चाहे डोकलाम तनाव का तात्कालिक शांतिपूर्वक समाधान हो या फिर ब्रिक्स में पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों के नामों का उल्लेख और हर प्रकार के आतंकवाद का विरोध। श्यामन में आयोजित ब्रिक्स सम्मेलन खत्म होने के चौथे एवं पांचवें दिन वहां से ऐसे विचार आए हैं, जो भारत की इस सोच को गलत साबित करने वाले हैं। चीन के सरकारी अखबार ''ग्लोबल टाइम्स'' ने लिखा है कि पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों की पहली बार ब्रिक्स घोषणापत्र में निंदा को भारतीय मीडिया भारतीय कूटनीति की जीत के तौर पर बता रहा है। ऐसा निष्कर्ष हास्यास्पद है और इसमें शोध की कमी है और यह भारत के आत्मप्रचार को दिखाता है। संपादकीय में लिखा गया है कि जैश-ए-मोहम्मद और लश्कर-ए-तैयबा को संयुक्त राष्ट्र और पाकिस्तान ने आतंकवादी समूहों की सूची में डाला हुआ है। चीन इन संगठनों को श्यामन घोषणापत्र में शामिल करने के लिए सहमत हुआ और यह पाकिस्तान के आधिकारिक रुख के अनुकूल है। इसके एक दिन पूर्व पाकिस्तान से संबंध को लेकर चीन के विदेश मंत्री वान्ग यी ने कहा कि पाक आतंकवाद से पूरी ताकत से लड़ रहा है और कुछ देशों को उसे इसके लिए पूरा श्रेय देना चाहिए। पाकिस्तान हमारा एक अच्छा भाई और जिगरी दोस्त है। कोई भी पाकिस्तान को चीन से बेहतर नहीं जानता-समझता है।हम आसानी से समझ सकते हैं कि यहां कुछ देशों से वान्ग यी का मतलब भारत और अमेरिका से होगा। ब्रिक्स घोषणा पत्र के बाद उस पर हुए दबाव का ही असर था कि पाकिस्तानी विदेश मंत्री ख्वाजा आसिफ को यह स्वीकार करना पड़ा कि अगर जैश और लश्कर जैसे आतंकवादी संगठनों पर लगाम नहीं लगाई गई तो अंतरराष्ट्रीय स्तर पर पाकिस्तान को बार-बार शर्मिंदगी का सामना करता रहेगा। हालांकि भारत सरकार की ओर से ऐसा कुछ नहीं कहा गया कि ब्रिक्स के घोषणा पत्र में पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों का नाम डाला जाना भारत की बहुत बड़ी कूटनीतिक जीत है। इसी तरह सरकार ने डोकलाम विवाद के तात्कालिक अंत पर भी ऐसी प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। किंतु देश में और दुनिया में भी ऐसा ही संदेश गया और मीडिया ने इसे इसी तरह पेश किया। यह बिल्कुल स्वाभाविक था। अब चीन को इससे परेशानी है या उसे पाकिस्तान को यह विास दिलाना पड़ रहा है वह उसके साथ खड़ा है या ब्रिक्स प्रस्ताव उसके खिलाफ नहीं है तो इसमें हम कुछ नहीं कर सकते। किंतु चीन की यह बात उसके चरित्र को देखते हुए स्वाभाविक होते हुए भी स्वीकार करना कठिन है। आखिर यह चीन ही था, जिसने ब्रिक्स सम्मेलन से ठीक पहले कहा था कि भारत को पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों के मसले को इस मंच पर नहीं उठाना चाहिए।

चीन ने कहा था कि पाकिस्तान प्रायोजित आतंकवाद पर भारत की चिंताओं पर ब्रिक्स शिखर सम्मेलन में चर्चा नहीं होगी। किंतु हुआ क्या? न केवल शिखर सम्मेलन में आतंकवाद पर चर्चा हुई बल्कि घोषणापत्र में पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों का नाम लेकर

निंदा की गई, जिस पर चीन के भी हस्ताक्षर हैं। जरा ब्रिक्स घोषणा पत्र के इस भाग के कुछ अंश देखिए। उसमें कहा गया है कि हम सभी तरह के आतंकवाद की निंदा करते हैं, चाहे वो कहीं भी घटित हुए हों और उसे किसी ने अंजाम दिया हो। ब्रिक्स देश संयुक्त राष्ट्र महासभा की तरफ से कॉम्प्रिहेंसिव कन्वेंशन ऑन इंटरनेशनल टेरेरिज्म (अंतरराष्ट्रीय आतंकवाद पर समग्र समझौते) को जल्द ही अंतिम रूप दिए जाने और इसे स्वीकार किए जाने की भी मांग करते हैं। ध्यान रखिए यह भारत की पहल है और प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी अनेक मंचों से इसे स्वीकार किए जाने की मांग कर चुके हैं। ठीक है कि इसमें चीन के शिंकियांग प्रांत में आतंकवाद के लिए जिम्मेवार दो संगठनों के भी नाम हैं किंतु इसमें भारत को कोई समस्या नहीं। भारत कहीं भी किसी प्रकार के आतंकवाद का विरोध करता है और उसमें जो जहां जैसा सहयोग चाहेगा वैसा करने को तैयार है। यह चीन ही था जिसने गोवा में हुए ब्रिक्स सम्मेलन में पाकिस्तान स्थित आतंकवादी संगठनों का नाम शामिल नहीं होने दिया था। यह चीन ही है जो जैश-ए-मोहम्मद के प्रमुख अजहर मसूद को आतंकवादी घोषित करने के प्रस्ताव में अड़ंगा लगाता रहा है। इस नाते इस तरह का प्रस्ताव ब्रिक्स सम्मेलन में चीन की भूमि पर और उसके नेता की उपस्थिति में पारित होना भारत की हर दृष्टि से विदेश नीति में एक बड़ी सफलता है। यही बात डोकलाम विवाद के साथ भी लागू होता है। जाहिर है, चीन जो बयान दे रहा है वह उसकी मजबूरी है और हमारे लिए भविष्य का संकेत भी। ग्लोबल टाइम्स अखबार ने लिखा है कि भारत के दबाव के बावजूद चीन पाकिस्तान के साथ रणनीतिक सहयोग को आगे बढ़ाता रहेगा। प्रश्न है कि जब भारत सरकार की ओर से कोई बयान दिया ही नहीं गया तो फिर चीन छटपटा क्यों रहा है? ग्लोबल टाइम्स के एक संपादकीय का शीर्षक ही है भारत को पुरानी मानसिकता से छुटकारा पाना चाहिए। वास्तव में ब्रिक्स प्रस्ताव के बाद पाकिस्तान इतना परेशान हुआ कि उसके विदेश मंत्री आनन-फानन में बीजिंग पहुंच गए। चीन के विदेश मंत्री के साथ उनकी साझा पत्रकार वार्ता हुई। उसमें चीन को हर हाल में पाकिस्तान को यह विास दिलाना था कि वह किसी सूरत में उसके खिलाफ नहीं जाने वाला है। भारत को यहां तक कह दिया कि वह पाकिस्तान को हल्के में न ले। इस प्रकार के बयान का क्या अर्थ है? चीन पहली बार इस तरह उलझन की स्थिति में आया है। उसके सामने पाकिस्तान में अपने दूरगामी राष्ट्रीय हित की रक्षा करने का प्रश्न है तो ब्रिक्स घोषणा पत्र के साथ जाने की समस्या भी। ब्रिक्स घोषणा पत्र के अनुसार अब उसके लिए अजहर मसूद के पक्ष में खड़ा होने के लिए नए तर्क गढ़ने होंगे। भारत की रणनीति बहुत साफ है। अपने काम से मतलब रखो और कोई भी प्रतिक्रिया व्यक्त न करो। डोकलाम पर भी भारत ने यही किया और ब्रिक्स पर भी यही भंगिमा है। हमें तत्काल जितना चाहिए था मिल गया, भविष्य का बाद में देखेंगे।

The Indian EXPRESS
JOURNALISM OF COURAGE

Date: 11-09-17

Shifting ties

Despite Look East talk, Delhi's reflexes have been much slower than Beijing. For India and Myanmar, a challenging road ahead.

Editorial

Prime Minister Narendra Modi’s visit to Myanmar marked 70 years of diplomatic relations between the two countries. Over the last 25 years, New Delhi has shifted uncomfortably in a bid to square a complicated relationship. On the side of high principle and Aung San Suu Kyi to begin with, New Delhi next wooed the Myanmar junta which had imprisoned her for nearly two decades.After Suu Kyi was released and Myanmar transitioned to democracy, India had to make another shift. While Suu Kyi is now

the super-president and de facto foreign minister in her role as State Counsellor, the Myanmar army continues to play a huge overt role in domestic and foreign policy, but the generals are more comfortable doing business with China. That influence is visible in mega Chinese investments such as an already operational oil and gas pipeline from Myanmar to China, port projects, Myanmar-China railway projects, mining, hydropower projects among others.Indian reflexes have been much slower despite the big talk about Look East. The Kaladan multi-modal project to connect Northeastern states to the rest of India via Myanmar is still to be completed, contracts for the remaining work on an ambitious trilateral highway connecting Moreh in Manipur to Thailand through Myanmar are yet to be awarded, and despite the passage of five years, the offtake of the $500 credit line for development projects given in 2012 is sluggish.

But cultural diplomacy has become an important arm of India's outreach in the neighbourhood. During PM Modi's visit, perhaps the most significant agreement was India's offer to assist in the restoration and conservation of 92 ancient pagodas and structures in the ancient city of Bagan through the Archaeological Suvey of India. The two countries have finalised an MoU on this. India also announced free visas to Myanmar citizens.With the political and military establishment in Myanmar more or less on the same page on the Rohingya question, PM Modi's reiteration of the Rohingya as primarily a security issue rather than a human rights issue of a stateless and persecuted minority, must have been a welcome respite to both sides of the Myanmarese leadership, beleaguered as they are by the blunt international criticism on this front.Modi condemned the "terrorist" incidents in the Rakhine, and voiced praise for military operations there, becoming the first country to do so, even though it is this that sends the Rohingya fleeing across the border to Bangladesh and to India. The joint statement notes that the problem in Rakhine is also one of lack of economic development, and India has promised assistance. It is no surprise that the main problem in the Rakhine, the deprivation of citizenship to the Rohingya, found no mention in the statement.